

कर्मवाद

(युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी महाराज)

कर्मवाद की पृष्ठभूमि

कुछ प्राणी संवेदन करते हैं, जानते नहीं; कुछ प्राणी जानते हैं, संवेदन नहीं करते। कुछ प्राणी जानते भी हैं और संवेदन भी करते हैं। अचेतन न जानता है और न संवेदन करता है। ये चार विकल्प हैं।

पहले विकल्प में संवेदन है, ज्ञान नहीं। यह चेतना का निम्नस्तर है। यह वृत्ति का स्तर है। इसके आधार पर जीवन जीया जा सकता है, पर चैतन्य का विकास नहीं किया जा सकता। दूसरा विकल्प शुद्ध ज्ञान का है। इसमें संवेदन नहीं है, कोरा ज्ञान है। संवेदन का माध्यम शरीर है। मुक्त आत्मा के शरीर नहीं होता। जिसके शरीर नहीं होता, वह प्रिय और अप्रिय - दोनों का स्पर्श नहीं करता। तीसरे विकल्प में ज्ञान और संवेदन - दोनों हैं। यह मानसिक और बौद्धिक विकास का स्तर है। इस स्तर में चैतन्य के विकास की पर्याप्त संभावना होती है। जैसे-जैसे हमारा ज्ञान विकसित होता चला जाता है, वैसे-वैसे हम संवेदन के धरातल से उठकर ज्ञान की भूमिका को विकसित करते चले जाते हैं। जैसे-जैसे हमारी ज्ञान की भूमिका विकसित होती है, वैसे-वैसे हम आत्मा के अस्तित्व में प्रवेश पाते हैं। हम अपने अस्तित्व में तब तक प्रवेश नहीं पाते, जब तक संवेदन का धरातल नीचे नहीं रह जाता है। आचार्य अमितगति के शब्दों में - “अज्ञानी संवेदन के धरातल पर जीते हैं। ज्ञानी मनुष्य जानते हैं किन्तु संवेदन नहीं करते। जो घटना घटित होती है, उसे जानते - देखते हैं, किन्तु उसका संवेदन नहीं करते, भार नहीं ढोते। अज्ञानी मनुष्य जानते नहीं, संवेदन करते हैं। वे स्थिति का भार ढोते हैं। वेदान्त का साधना-सूत्र है कि साधक द्रष्टा होकर जीये। वह घटना के प्रति साक्षी रहे, उसे देखे, किन्तु उससे प्रभावित न हो, उसमें लिप्त न हो।

ज्ञान होना और संवेदन न होना - यह द्रष्टा का जीवन है। मेरे हाथ में कपड़ा है। मैं इस कपड़े को जानता हूँ, देखता हूँ। मैं इस कपड़े को कपड़ा मानता हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं मानता। यह ज्ञान का जीवन है, यह आत्म-दर्शन है। प्रश्न हो सकता है - “यह आत्म-दर्शन कैसे? यह तो वस्त्र-दर्शन है। वस्त्र-दर्शन को हम आत्म-दर्शन कैसे मान सकते हैं? इसका उत्तर बहुत साफ है। मैं वस्त्र को जानता हूँ। मैं केवल जानता हूँ, उसके साथ कोई संवेदनात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। इसका अर्थ है मैं ज्ञान को जानता हूँ और ज्ञान को जानने का अर्थ है, मैं अपने आपको जानता हूँ। ज्ञान और संवेदन सर्वथा अभिन्न नहीं और सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं। बहुत सारे लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं। आत्म-दर्शन का उपाय बहुत जटिल माना जाता है; मैं आपको बहुत सरल उपाय बता रहा हूँ। आप इस वस्त्र को देखें। यह आपका आत्म-दर्शन है। आप वस्त्र को



श्री महाप्रज्ञजी महाराज

देख रहे हैं, तब केवल वस्त्र को नहीं देख रहे हैं। जिससे वस्त्र को देख रहे हैं, उसे भी देख रहे हैं, अपने ज्ञान को भी देख रहे हैं। जहाँ केवल ज्ञान का प्रयोग होता है वहाँ अपने अस्तित्व का अनुभव होता है। अपने अस्तित्व का अर्थ है - केवल ज्ञान का अनुभव। ज्ञानमें किसी दूसरी भावना का मिश्रण हुआ कि वह संवेदन बन गया। ज्ञान का धरातल छूट गया। केवल ज्ञान का अनुभव करना, अपने अस्तित्व का अनुभव करना है। अपना अस्तित्व उससे पृथक् नहीं है। मैं ज्ञान का अनुभव कर रहा हूँ, इसका अर्थ है कि जहाँ से ज्ञान की रश्मियाँ आ रही हैं उस आत्म-सत्ता का अनुभव कर रहा हूँ। क्योंकि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। केवल ज्ञान का प्रयोग करने का अर्थ है - अपने आपको जानना और अपने आपको अपनाने का अर्थ है - केवल ज्ञान का प्रयोग करना। इस अर्थ में केवल ज्ञान का प्रयोग और आत्म-दर्शन एक ही बात है।

ज्ञान की निर्मल धारा में जब राग और द्वेष का कीचड़ मिलता है, अहं और मोह की कलुषता मिलती है, तब वह केवल ज्ञान या शुद्ध ज्ञान की धारा संवेदन की धारा बन जाती है। इस धारा में न शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है और न आत्म-दर्शन होता है।

ज्ञान और संवेदन-यह कर्मवाद की पृष्ठभूमि है।

अविभक्त बंगाल में चौबीस परगना जिला था। उस जिले में एक गांव है - कोल्हू। वहाँ एक व्यक्ति रहता था। उसका नाम था भूपेश सेन। वह बंगाली गृहस्थ था बहुत बड़ा भक्त। इतना बड़ा भक्त कि जब वह भक्ति में बैठता तब तन्मय हो जाता। बाहरी दुनिया से उसका सम्बन्ध टूट जाता। एक दिन वह भक्ति में बैठा और तन्मय हो गया। बाहर का मान समाप्त हो गया। अन्तर में पूरा जाग्रत, किन्तु बाहर से सुप्त एक व्यक्ति आया और चिल्लाया, “भूपेश! क्या कर रहे हो? उठो और संभलो।” वह बहुत जोर से चिल्लाया, किन्तु भूपेश को कोई पता नहीं चला। उसने भूपेश का हाथ पकड़ झकझोरा, तब भूपेश ने आंखें खोलीं और कहा, “कहिए, क्या बात है?” आगन्तुक बोला, “मुझे पूछते हो क्या बात है? यहाँ आंखें मूंदे बैठे हो। तुम्हें पता नहीं, तुम्हारे इकलौते बेटे को सांप काट गया और वह तत्काल ही मर गया।” भूपेश ने कहा “जो होना था सो हुआ।” आगन्तुक बोला, “अरे! तुम कैसे पिता हो? मैंने तो दुःख का संवाद सुनाया और तुम वैसे ही बैठे हो? लगता है कि पुत्र से तुम्हें प्यार नहीं है। तुम्हें शोक क्यों नहीं हुआ? तुम्हें चिन्ता क्यों नहीं

हुई? तुम्हें दुःख क्यों नहीं हुआ? तुम्हारी आंखों से दो आंसू क्यों नहीं छलक पड़े?” भूपेश ने कहा, “जिस दिन बेटा आया था तो मुझे पूछकर नहीं आया था और आज वह लौट गया तो मुझे पूछकर नहीं लौटा। उस दिन मैंने कुछ नहीं किया था, आज भी मुझे कुछ नहीं करना है। यह जन्म और मरण की अनिवार्य श्रृंखला है, जिसमें मेरा हाथ नहीं है। मनुष्य आता है, चला जाता है। तुम्हें इतनी क्या चिन्ता है?” आगन्तुक चुप हो गया उसके पास बोलने के लिए कुछ नहीं बचा। कुछ क्षण रुक कर वह बोला, अब उसकी चिता जलानी है, साथ चलो। भूपेश उसके साथ गया। पुत्र की अर्थी श्मशान में पहुंची। चिता में पुत्र को सुलाकर, आग लगाकर कहा, “बेटे, तुम जिस घर से आए थे, उसी घर में जा रहे हो। आज से हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया।”

यह घटना का केवल ज्ञान है। इसके साथ संवेदना का कोई तार जुड़ा हुआ नहीं है। जो घटित हुआ, उसी रूप में स्वीकार किया गया है। मनुष्य जब इस स्थिति में पहुंच जाता है, तब ज्ञान की भूमिका प्रशस्त हो जाती है। भगवान् महावीर की वाणी में इसी का नाम संवर है। जहां केवल ज्ञान रहता है, केवल आत्मा की अनुभूति रहती है, वहां विजातीय तत्त्व का आकर्षण बन्द हो जाता है।

कर्म का वर्तुल

आत्मा की दो स्थितियां हैं - एक अस्वीकार की और दूसरी स्वीकार की। केवल ज्ञान का अनुभव होना अस्वीकार की स्थिति है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव की अवस्था में विजातीय तत्त्व का कोई प्रवेश, संक्रमण या प्रभाव नहीं होता। संवेदन स्वीकार की स्थिति है। संवेदन के द्वारा हमारा बाह्य जगत के साथ सम्पर्क होता है। हम बाहर से कुछ लेते हैं और उसे अपने साथ जोड़ते हैं। जोड़ने की भावधारा का नाम “आश्रव” और विजातीय तत्त्व के जुड़ने का नाम “बंध” है। आत्मा के साथ जुड़ा हुआ विजातीय तत्त्व परिपक्व होकर अपना प्रभाव डालता है, तब उसका नाम “कर्म” हो जाता है। वह अपना प्रभाव दिखाकर विसर्जित हो जाता है। कोई भी विजातीय तत्त्व आत्मा के साथ निरन्तर चिपका नहीं रह सकता। या तो वह अवधि का परिपाक होने पर अपना प्रभाव दिखलाकर स्वयं चला जाता है या प्रयत्न के द्वारा उसे विलग कर दिया जाता है। यह विलग करने का प्रयत्न “निर्जरा” है। तपस्या से कर्म निर्जीर्ण होते हैं, इसलिए उसका (तपस्या का) नाम निर्जरा है। निर्जरा का चरमबिन्दु मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है - केवल आत्मा। आत्मा व पुद्गल का योग है, वह बन्धन है, संसार है। केवल आत्मा के अस्तित्व का होना, पुद्गल का योग न होना ही मोक्ष है। इसकी अनुभूति धर्म के हर क्षण में की जा सकती है।

आश्रव और संवर, बंध और निर्जरा - इन चारों तत्त्वों के समझने पर ही कर्म की वास्तविकता को समझा जा सकता है। केवल चैतन्य का अनुभव होना संवर है। चैतन्य के साथ राग-द्वेष का मिश्रण होना आश्रव है। उसके द्वारा कर्म-परमाणु आकर्षित होते हैं। वे चैतन्य को आवृत्त करते हैं - ज्ञान और दर्शन की क्षमता पर आवरण डालते हैं। वे आत्मा के सहज आनन्द को विकृत कर, उसके दृष्टिकोण और

चरित्र में विकार उत्पन्न करते हैं। वे आत्मा की शक्ति को स्थलित करते हैं। कुछ कर्म-परमाणु शरीर - निर्माण और पौद्गलिक उपलब्धि के हेतु बनते हैं। इस प्रकार आश्रव बंध का निर्माण करता है और बंध पुण्य-कर्म और पाप-कर्म के द्वारा आत्मा को प्रभावित करता है। जब तक आत्मा केवल ज्ञान के अनुभव की अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह वर्तुल चलता ही रहता है। जीव में भी अनन्त शक्ति है और पुद्गल में भी अनन्त शक्ति है। जीव में दो प्रकार की शक्तियां होती हैं -

(१) लब्धिवीर्य - योग्यतारूप शक्ति।

(२) करणवीर्य - क्रियात्मक शक्ति।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा, “भंते! जीव क्या मोहनीय कर्म का बंध करता है?”

भगवान् - “करता है।”

“भंते! कैसे?”

“प्रमाद से।”

“भंते! प्रमाद किससे होता है?”

“योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से।”

“भंते! योग किससे होता है?”

“वीर्य (प्राण) से।”

“भंते! वीर्य किससे होता है?”

“शरीर से।”

“भंते! शरीर किससे होता है?”

“कर्म - शरीर से।”

“भंते! कर्म - शरीर किससे होता है?”

“जीव से।”

आप उल्टे चलिए। जीव से शरीर, शरीर से क्रियात्मक शक्ति, क्रियात्मक शक्ति से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म-बंध-यह वर्तुल है।

कर्म का कर्ता आत्मा है या कर्म? इस प्रश्न पर दो अभिमत हैं। सूत्रकार की भाषा में कर्म का कर्ता आत्मा है। आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा में कर्म का कर्ता कर्म है। ये दोनों सापेक्ष दृष्टिकोण हैं। इनमें तात्पर्य-भेद नहीं है। मूल आत्मा (चिन्मय अस्तित्व) और आत्मपर्याय (मूल आत्मा के निमित्त से निष्पन्न विभिन्न अवस्थाएं) - ये दो वस्तुएं हैं। इनमें हम अभेद और भेद - दोनों दृष्टियों से देखते हैं। जब हम अभेद की दृष्टि से देखते हैं, तब कहा जाता है - आत्मा कर्म का कर्ता है और जब भेद की दृष्टि से देखते हैं, तब कहते हैं - कर्म कर्म का कर्ता है। कर्म का कर्ता-कषाय-आत्मा है। वह मूल आत्मा का एक पर्याय है। यदि मूल आत्मा कर्म का कर्ता हो तो वह कभी भी कर्म का अकर्ता नहीं हो सकता। उसका स्वभाव चैतन्य है, इसलिए वह चैतन्य का ही कर्ता हो सकता है। कर्म पौद्गलिक अचेतन है। वह उसका कर्ता नहीं हो सकता। मूल आत्मा के आयतन में कषाय-आत्मा (राग और द्वेष) का वलय है। उससे कर्म - पुद्गलों का आकर्षण होता है। वे कषाय को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार कषाय से कर्म और कर्म से कषाय चलता रहता है। मिथ्या दृष्टिकोण,

आकांक्षा और आत्मविस्मृति - ये तीनों आत्म-पर्याय भी कर्म के कर्ता हैं। किन्तु वास्तव में ये सब कषाय के उपजीवी हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति भी कर्म की कर्ता है। किन्तु उसमें कर्म-पुद्गलों को बांधकर रखने की क्षमता नहीं है। कषाय के क्षीण हो जाने पर केवल प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म-पुद्गल का प्रवाह आता है, वह पहले क्षण में कर्म-शरीर से जुड़ता है, दूसरे क्षण में मुक्त होकर तीसरे क्षण में निर्जीर्ण हो जाता है। ठीक इसी तरह जैसे सूखी रेत भीत पर डाली गई, भीत का स्पर्श किया और नीचे गिर गई।

कर्म की तीन अवस्थाएं होती हैं - स्पृष्ट, बद्ध और बद्ध-स्पृष्ट। कषाय का वलय टूट जाता है तब कोरी प्रवृत्ति से कर्म आत्मा से स्पृष्ट होते हैं। कर्म का दीर्घकालीन या प्रगाढ़ बंध कषाय के होने पर ही होता है। हमारी बहुत सारी अनुभूतियां कषाय-चेतना की अनुभूतियां हैं। आवेश, अहंकार, प्रवंचना, लालसा - ये सब कषाय की उर्मियां हैं। भय, शोक, घृणा, वासना - ये सब कषाय की उपजीवी उर्मियां हैं। इन उर्मियों की अनुभूति के क्षण क्षुब्ध और उत्तेजनापूर्ण होते हैं। जिस क्षण हम केवल चेतना की अनुभूति करते हैं, वह शांत-कषाय का क्षण होता है। जिन क्षणों में हम संवेदन करते हैं, उनमें प्रत्यक्षतः या परोक्षतः चेतना कषाय-मिश्रित होती है।

सन्त रबिया के घर एक फकीर आया। उसने मेज के पास पड़ी पुस्तक को देखा। उसके पन्ने उलटने शुरू किए। एक पन्ने में लिखा था - “शैतान से नफरत करो” - रबिया ने उसे काट दिया। फकीर बोला, “यह क्या?” - सन्त रबिया ने कहा, “यह मैंने काटा।” फकीर ने पूछा, “क्यों?” रबिया ने कहा, “अच्छ नहीं लगा।”

“यह कैसे हो सकता है कि पवित्र पुस्तक की बात अच्छी न लगे? क्या यह सही नहीं है?” - फकीर ने पूछा। सन्त रबिया ने कहा, “एक दिन मुझे भी सही लगता था, किन्तु आज लगता है कि सही नहीं है।”

“वह कैसे?” - फकीर ने पूछा।

सन्त रबिया ने कहा, जब तक मेरा प्रेम जाग्रत नहीं था, मेरी प्रेम की आंख खुली नहीं थी, मुझे भी लगता था कि शैतान से नफरत करो, प्यार नहीं - यह वाक्य बहुत सही है। किन्तु अब मैं क्या करूँ? मेरी प्रेम की आंख खुल गई है। अब घृणा करने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं बचा है। मैं घृणा कर नहीं सकता। प्रेम की आंख यह भेद करना नहीं जानती कि इसके साथ प्रेम करो और इसके साथ घृणा।”

हम जब कषाय-चेतना में होते हैं तब किसी को प्रिय मानते हैं और किसी को अप्रिय। किसी को अनुकूल मानते हैं और किसी को प्रतिकूल। हमारी कषाय-चेतना शान्त होती है, तब ये सब विकल्प समाप्त हो जाते हैं। फिर कोरा ज्ञान ही हमारे सामने शेष रहता है। उसमें न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय। न कोई इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट। न कोई अनुकूल होता है और न कोई प्रतिकूल। इस स्थिति में कर्म का बंध नहीं होता। कषाय-चेतना पर पहला प्रहार तब होता है, जब भेद-ज्ञान का विवेक जाग्रत होता है। आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है - यह विवेक जब अपने वलय

का निर्माण करता है तब कर्म-शरीर से लेकर कषाय तक के सारे वलय टूटने लग जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने बहुत ही सत्य कहा है —

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन ।

तस्यैवाभावतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन ॥

— इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं, जिनमें भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है, जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव में आ गई।

ऐसा करते ही कर्म का मूल हिल उठता है। जिसने अचेतन और चेतन का भेद समझ लिया उसने कर्म और कषाय को आत्मा से भिन्न समझ लिया। समझ कर्म के मूल स्रोत पर प्रहार करती है। जिस कषाय से कर्म आ रहे हैं, उसके मूल पर कुठाराघात करती है।

कर्म-बंधन को तोड़ने का मूल-हेतु भेद का विज्ञान है, तो कर्म-बंध का मूल हेतु भेद का अविज्ञान है। आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा को उलटकर कहा जा सकता है —

भेदाविज्ञानतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन ।

तस्यैवाभावतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन ॥

— इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं जिनमें भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव में आ गई।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व में होने वाले वलयों का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्मबंधन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हें भेद-ज्ञान नहीं होता, मूल चेतना और चेतना के वलयों की एकता की अनुभूति होती है, उनका बंधन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्गल है और अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एक रस नहीं हो सकता। हमारी कषाय-आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एक रस करती है। मुक्त आत्मा के साथ-साथ पुद्गल एक रस नहीं होता, क्योंकि उसमें केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का क्षण कर्म-शरीर की विद्यमानता में “संवर” - कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध को रोकने वाला और उसके (कर्म-शरीर के) अभाव में आत्मा का स्वरूप होता है। कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आश्रय है। वह कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करता है। यहां जातीय-सूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खींचता है। कषाय-चेतना की परिणतियां पुद्गल-मिश्रित हैं। पुद्गल पुद्गल को टानता है। यह तथ्य हमारी समझ में आ जाए तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणों में रहने का अभ्यास करें जहां कोरा ज्ञान हो संवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसीलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए “शुद्ध उपयोग” शब्द का प्रयोग किया है। “शुद्ध उपयोग” अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति। साधना के अभाव में कर्म का प्रगाढ़ बंध होता है और साधना के द्वारा उसकी ग्रन्थि का भेदन होता है। इस दृष्टि

से कहा जा सकता है कि साधना के रहस्य को समझे बिना कर्म के रहस्य को नहीं समझा जा सकता और कर्म के रहस्यको समझे बिना साधना के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। हम कर्म-पुद्गल की जिन धाराओं को ग्रहण करते हैं, उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं। उस समय हमारी चेतना की परिणति भी उसके अनुकूल होती है। आन्तरिक और बाह्य परिणतियों में सामंजस्य हुए बिना दोनों में सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। जैन दर्शन ने कर्मवाद की मीमांसा की है, उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नये उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं तथा जैन साधना पद्धति का नया रूप भी प्रस्तुत हो सकता है। हम जैसी भावना करते हैं, वैसी ही हमारी परणति होती है। जैसी परणति होती है, वैसे ही पुद्गलों को हम ग्रहण करते हैं। उन पुद्गलों का अपने आप में परिपाक होता है। परिणाम के बाद उसकी जो परणति होती है, वह हमारी आन्तरिक परणति हो जाती है। यह एक श्रृंखला है। एक व्यक्ति ने ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया, ज्ञान की निन्दा की, ज्ञानी की निन्दा की, उस समय उसकी परिणति ज्ञान-विमुख हो गई। उस परिणति-काल में वह कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है। वे कर्म पुद्गल आत्मा की सारी शक्तियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु ज्ञान-विरोधी परिणति में गृहीत पुद्गल मुख्यतया ज्ञान को आवृत्त करेंगे। उनका परिपाक ज्ञानावरण के रूप में होगा। इस प्रकार हम सारे कर्मों की मीमांसा करते चलें।

जिसकी चेतना की परिणति यदि उठने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म—पुद्गल अनुभव दशा में उसके चरित्र को विकृत बनाते हैं। उसकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके सुख में बाधा डालते हैं। यह परिणति का सिद्धान्त है। हम किस रूप में परिणत होते हैं, किस प्रकार की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा पुद्गल-धारा को स्वीकार करते हैं, इसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके आधार पर ही वह जीवन की सफलता का निर्धारण कर सकता है, जीवन-संघर्ष में आनेवाली बाधाओं को पार कर सकता है।

जिस व्यक्ति को यह लगे कि मुझे ज्ञानावरण अधिक सता रहा है, उसको ज्ञानावरण को क्षीण करने की साधना का मार्ग चुनना चाहिए। किसी को मोह अधिक सताता है, किसी की क्षमताओं का अवरोध पैदा होता है - ये भिन्न-भिन्न समस्याएं हैं। साधना के द्वारा इनका समाधान पाया जा सकता है। क्रोध पर विजय प्राप्त करनी हो तो एक प्रकार की साधना करनी होगी और यदि मान पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी। जिस समस्या से जूझना है, उसी के मूल पर प्रहार करने वाली साधना चुननी होगी। यह बहुत सूक्ष्म पद्धति है। रहस्य हमारी समझ में आ जाए तो जीवन की समस्याओं को सुलझाने में हम बहुत सफल हो सकते हैं।

(पृष्ठ ३८ का शेष)

५. **काय क्लेश :** — शास्त्रानुसार केश लोच करना, शरीर का ममत्व छोड़ना शरीर सेवा त्याग, आतापना लेना, धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान ध्याना। यह तप — निर्वेदका कारण है।
६. **संलीनता :** — कषाय भावों को रोकना, वर्जित स्थानों में नहीं रहना, इंद्रियों को दमन करना उनके विषयों को जीतना संलीनतातप कहलाता है।
७. **प्रायश्चित्त:** — मानव मात्र भूल का पात्र है। की हुई भूल का अवांछनीय कर्म का समर्थ गीतार्थ गुरु के सामने पाप को प्रकट कर उचित दण्ड लेना व मन में पुनः ऐसी भूल न हो ऐसी कोशिश करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है।
८. **विनय तप :** — अपने से बड़े, पूज्य आचार्य भगवंत, साधु साध्वी ज्ञानवान तपवान को उचित आदर सन्मान देना विनय तप है, विनय ही धर्म का मूल है।
९. **वैयावच्च तप :** — गुरु, अपने से बड़े, साधु महाराज, बाल, म्लान रोगी साधु, साधर्मिक, कुल, गण संघ आदि की सेवा

भक्ति करना वैयावच्च तप है। यह तप दस प्रकार के योग्य पात्र की सेवा करना है।

१०. **स्वाध्याय :** — नित्यप्रति धार्मिक शास्त्रों का वाचन, सुनना पढ़ाना, शंका समाधान करना, सूत्र व अर्थ का चिंतन करना, अनुशीलन करना और शास्त्रोपदेश देना यह पांच प्रकार का स्वाध्याय तप है।
११. **ध्यान तप :** — आर्तध्यान, रौद्रध्यान का त्याग करना आत्मा को धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का विचार करना, शुद्ध्यन करना ध्यान तप है।
१२. **कायोत्सर्ग तप :** शरीर की ममता छोड़ अनशन करना, दीक्षा लेना कर्म बंध के हेतुओं को छोड़ना 'कायोत्सर्ग' तप है।

ऐसे केवली प्ररूपित तप धर्म को जो कोई प्राणी अपनाता दूसरे को तप करने को उत्साहित करता है व तप करने वाले की अनुमोदना करता है वह कर्मों की निर्जराकर भविष्य में पुण्यानुबन्धीपुण्य का भी भागीदार होता है। अतः त्रिकरण त्रियोग से तप कराना व अनुमोदनकर जीवन का श्रेय प्राप्त करना चाहिये।